



जनहित याचिका, न्यायिक सक्रियता एवं लोकतंत्र

Harpal Singh

Assistant Professor of Political Science

Government College for Girls Unhani, Mahendragarh (HR)

प्रस्तावना—

न्यायिक सक्रियता की अवधारणा अति प्राचीन है इसकी जड़े समानता एवं नैसर्गिक अधिकारों की अंगजी अवधारणा में पाई जाती है 17वीं शताब्दी में ब्रिटेन का दार्शनिक कोक का राजा जेम्स के साथ जो संघर्ष हुआ था उसमें यह बात उभरकर सामने आई थी कि न्यायालय को न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्राप्त है। सर्वप्रथम इसकी शुरुआत तब हुई, जब धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए न्यायालय ने वर्जीनिया संविधि को शून्य घोषित किया, क्योंकि यह ब्रिटेन के साथ 1783 की शांति संधि का उल्लंघन कर रहा था। इस अवधारणा को संयुक्त राज्य अमेरिका में पुनः स्थापित किया गया, जब मारबरी बनाम मेडिसन (सन् 1803) का विवाद आया, जहाँ मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक पुनरावलोकन के द्वारा न्यायिक सक्रियता को नींव डाली जिसमें कहा गया कि संविधान सर्वोच्च है तथा संविधान की व्याख्या के प्रतिकूल बनाया गया कोई कानून वैध नहीं है। आधुनिक युग में आर्थर श्लेसिंगर जूनियर ने 'द सुप्रीम कोर्ट 1947 शीषक से जनवरी 1947 में फार्च्यून परिका के लेख में न्यायिक सक्रियता शब्द की शुरुआत की ये एक अमेरिकी इतिहासकार, सामाजिक आलोचक और प्रसिद्ध बुद्धिजीवी थे। पाल महोनी के अनुसार सक्रियता मौजूद है, जहां न्यायाधीशों ने कानून को संशोधित किया है, उससे जो पिछले मौजूदा कानून में कहा गया था जो अक्सर अपने निर्णय को उनसे प्रतिस्थापित करते हैं, जो जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं— (1)

प्रसिद्ध संविधानविद सुभाष कश्यप कहते हैं, जिसे न्यायपालिका की अति सक्रियता कहा जाने लगा है, वह नेताओं, मंत्रियों, प्रशासकों की निष्क्रियता, अक्षमता, कानून और संविधान की अवहेलना, आपराधिक लापरवाही, भ्रष्टाचार शक्ति व धन का लालच, अति अनुशासनहीनता और चरित्र व अखंडता की कमी की तुलना में इसकी शक्ति, प्रासंगिकता एवं वैधता को रेखांकित करता है इसके परिणाम स्वरूप एक शून्य बन गया था जिसमें सरकारी मशीनरी, विधायी और प्रशासनिक क्षेत्रों में भ्रष्टाचार से पूरी तरह असहाय लग रही थी इस शून्यता को न्यायपालिका द्वारा पूर्ण किया गया है।

संकेत शब्द – न्यायिक सक्रियता, न्यायिक पुनरावलोकन, कानून, निष्क्रियता, प्रासंगिकता

न्यायिक सक्रियता एवं लोकतंत्र –

भारतीय संविधान के तहत देश में न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी है। राज्य व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को लागू करने के लिए बाध्य है। राज्य को अपनी जिम्मेदारियों से बचने से रोकने के लिए, भारतीय संविधान ने राज्य के कार्यों की समीक्षा (रिव्यू) करने के लिए न्यायालय को अंतर्निहित (इन्हेरेंट) शक्तियां प्रदान की हैं। इस संदर्भ में भारतीय न्यायपालिका को भारतीय संविधान का रक्षक और संरक्षक माना गया है।



अपने संवैधानिक दायित्व का पालन करते हुए भारतीय न्यायपालिका ने राज्य के अन्यायपूर्ण, अविवेकी (अनरीजनेबल) और अनुचित कार्यों या निष्क्रियता (इनैक्शंस) से जब भी आवश्यक हो, व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों का सक्रिय रूप से बचाव किया है। मानवाधिकारों को कायम रखते हुए न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के मामले में कार्यस्थल में महिलाओं के अधिकारों को रक्षा से लेकर सतत (सस्टेनेबल) विकास के मूलभूत सिद्धांतों को लागू करने तक एक लंबा सफर तय किया है। न्यायपालिका ने मानव जीवन के हर पहलू से संपर्क किया है और "लोकस स्टैंडी" सिद्धांत से जनहित याचिका (पीआईएल) में स्थानांतरित (शिफ्टिंग) करके गरीबों के लिए एक फायदा साबित हुआ है।

न्यायिक सक्रियता क्या है

न्यायिक सक्रियता की अवधारणा "न्यायिक संयम (ज्यूडिशियल रिस्ट्रेंट)" के विचार का विरोध करती है। इन दोनों शब्दों का उपयोग अक्सर न्यायिक शक्ति की मुखरता (असर्टिवनेस) का वर्णन करने के लिए किया जाता है और इनका उपयोग व्यक्तिगत और व्यावसायिक विचारों के दृष्टिकोण से भी किया जाता है, जिससे अदालतें उचित भूमिका निभाने के लिए किसी एक विचार की ओर झुक जाती हैं। न्यायिक सक्रियता, "न्यायिक सर्वोच्चता (सुप्रीमेसी)," "न्यायिक निरपेक्षता (एब्सोल्यूटिज्म)," "न्यायिक अराजकता (एनार्की) और अन्य शब्द अक्सर संयुक्त राज्य अमेरिका में एक दूसरे के स्थान पर उपयोग किए जाते हैं। "न्यायिक सक्रियता" शब्द को आनुभाषिक (एंपायरिकल) भी माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों का प्रदर्शन उनकी विचारधाराओं, विचारों, मूल्यों और रुचियों पर आधारित होता है। न्यायिक सक्रियता का दायरा इतना व्यापक है कि कोई सटीक परिभाषा मौजूद नहीं है। इसकी कोई वैधानिक परिभाषा नहीं है क्योंकि प्रत्येक विधिवेत्ता (ज्यूरिस्ट) या विद्वान इसे अलग-अलग परिभाषित करते हैं। न्यायिक सक्रियता के समर्थकों का दावा है कि यह न्यायिक समीक्षा का एक उचित रूप है। इसके विपरीत, थॉमस जेफरसन इसे संघीय न्यायाधीशों की 'निरंकुश शक्ति' के रूप में संदर्भित करते हैं। वी.डी कुलश्रेष्ठ के अनुसार, न्यायिक सक्रियता तब होती है जब न्यायपालिका पर वास्तव में कानून बनाने की प्रक्रिया में भाग लेने का आरोप लगाया जाता है और बाद में वह कानूनी प्रणाली में एक महत्वपूर्ण खिलाड़ी के रूप में उभरती है।

भारत में न्यायिक सक्रियता का विकास –

आजादी के बाद के शुरुआती वर्षों में, भारत की अदालतें प्रकृति में तकनीकी नहीं थीं। यद्यपि न्याय का लक्ष्य हमेशा इस मूलभूत पहलू से मेल नहीं खाता था कि अदालतें कैसे काम करती हैं, न्यायपालिका उन प्रक्रियाओं का पालन करने के लिए अधिक चिंतित थी जो इससे अपेक्षित थीं। दूसरे शब्दों में कहें तो, उस समय के अधिकांश न्यायाधीश उतने रचनात्मक नहीं थे और उन्होंने न्याय के लक्ष्य को पूरा करने के तरीकों की तलाश करने की जहमत नहीं उठाई, जिसके लिए वे उन पदों पर थे। ब्रिटिश साम्राज्य और एक नए स्वतंत्र भारत में कुछ न्यायाधीश निर्णय जारी करने के लिए अपने रास्ते से हट गए जिन्हें अब न्यायिक सक्रियता का मूलभूत उदाहरण माना जाता है।

न्यायिक सक्रियता की शुरुआत 1893 में हुई थी जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति महमूद ने एक असहमतिपूर्ण निर्णय जारी किया जिसने भारत में सक्रियता के बीज बोए। इस मामले में एक विचाराधीन (अंडर ट्रायल) व्यक्ति शामिल था जो कानूनी प्रतिनिधित्व का खर्च वहन नहीं कर सकता था। अपनी असहमतिपूर्ण राय में, उन्होंने इस नियम की आलोचना की ओर कहा कि अपील पूरी तरह



से इस आधार पर खारिज कर दी जानी चाहिए कि अपीलकर्ता अंग्रेजी में रिकॉर्ड के अनुवाद और छापाई के लिए भुगतान करने में असमर्थ है। यह गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त विचाराधीन कैदियों की रक्षा के लिए किसी प्रकार की सक्रियता के समान था। हालाँकि, यह संविधानिक पीठ पर अंग्रेजी न्यायाधीशों के साथ अच्छी तरह से नहीं बैठा, न्यायाधीश महमूद को अदालत में इन युक्तियों का उपयोग करने के लिए इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इसके अलावा, भारत में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा ने 1960 के दशक के अंत या 1970 के दशक की शुरुआत में और अधिक आकर्षण (ट्रेक्शन) प्राप्त किया, जब श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री के रूप में कार्य किया और मोहन कुमारमंगलम, एक प्रसिद्ध अधिवक्ता और कानूनी विद्वान, ने केंद्रीय मंत्री के रूप में कार्य किया। समाज के गरीब वर्गों के हितों की बेहतर सेवा करने के लिए, स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने पसंदीदा नारे, "गरीबी हटाओ" को व्यवहार में लाने का प्रयास किया, पूर्व राजाओं को दिए गए प्रिंसीपल और विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और स्वतंत्र भारत की रियासतों के राजकुमारों और 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया हालाँकि, रूढ़िवादी (कंजरवेटिव) न्यायपालिका ने इसे व्यक्तिगत रूप से लिया और इसके प्रयासों को पलट दिया।

न्यायिक सक्रियता एवं संवैधानिक योजना—

भारतीय संविधान में अनेक ऐसे प्रावधान हैं जिन्होंने न्यायपालिका को सक्रिय भूमिका अदा करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र दिया है अनुच्छेद 13 के अंतगत किसी भी विधि की वैधता की समीक्षा की जा सकती है जा मूल अधिकारों का हनन करती है। अनुच्छेद 32 के तहत मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर सर्वोच्च न्यायालय तक पहुंचा जा सकता है। अनुच्छेद 32 स्वयं एक मूल अधिकार है जिसे संवैधानिक उपचारों का अधिकार कहा जाता है इसे डा० भीम राव अबेडकर ने संविधान की आत्मा कहा है। अनुच्छेद 139, 226, 227 के अंतगत उच्च न्यायालय मूल अधिकारी एवं अन्य सांविधिक अधिकारों की रक्षा करते हैं जिस कारण न्यायालय की सक्रियता बढ़ी है। न्यायपालिका अगर अपने दायित्व के प्रति सक्रिय है तो इसमें बुरा क्या है, सरकार के सभी अंगों को अपने कार्य के प्रति सक्रिय होना चाहिए किसी अंग विशेष की निष्क्रियता चिंता का विषय होनी चाहिए, सक्रियता का नहीं। इसीलिए मूल अधिकारों का संरक्षण करते समय न्यायालय न्यायिक विधान एवं न्यायिक प्रशासन में लिप्त हो जाते हैं जब 1964 में न्यायमूर्ति गजेंद्र गढ़कर भारत के मुख्य न्यायाधीश बने थे, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के पारंपरिक निष्क्रिय दृष्टिकोण का अनुसरण किया था, न कि सक्रिय कार्यकर्ता का। पंजाब के गोलकनाथ मामले (1966) में जब शीर्ष न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती तो इसे न्यायिक सक्रियता का एक बड़ा उदाहरण माना गया किंतु संसद ने इसे 24वें संशोधन (1967) द्वारा बदल दिया गया।

इसके बाद 1973 में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मामले में संविधान के मौलिक ढांचे में संशोधन ना करने की व्यवस्था देकर सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठ के 7-6 के बहुमत से संसद की शक्तियों को सांभल कर दिया गया हालांकि अनुच्छेद 368 में यह कहीं भी उल्लेख नहीं है कि मूल संरचना में संशोधन नहीं किया जा सकता इसलिए इस निर्णय में व्यावहारिक रूप से अनुच्छेद 368 में संशोधन किया गया है 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में अन्तःस्थापित (4)-(5) को इस आधार पर विखंडित कर दिया है कि न्यायिक पुनरावलोकन भारतीय संविधान का आधारिक लक्षण है जिसे संविधान का संशोधन करके छीना नहीं जा सकता। संविधान के प्रथम



संशोधन(1951) के साथ ही नवमी अनुसूची अस्तित्व में आई, जिसमें डाले गए कानूनों की न्यायिक समीक्षा नहीं की जा सकती थी, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले द्वारा इसे भी निरस्त कर दिया है। न्यायिक सक्रियता की दूसरी भूमिका अनुच्छेद 21 के तहत देखी गई जो अनुच्छेद 21 जीवन और स्वतंत्रता के संरक्षण से संबंधित है किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन या व्यक्तिगत स्वतंत्रता से कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया क सिवाय वंचित नहीं किया जा सकता है।

1950 में ए के गोपालन बनाम 'द स्टेट ऑफ मद्रास का मामला सामने आया ए के गोपालन जिन्हें निवारक निरोध अधिनियम 1950 के तहत मद्रास जेल में हिरासत में लिया गया था, ने चुनौती दी कि उनके मौलिक अधिकार का उल्लंघन किया गया था, जो कि अनुच्छेद 19, 21 और 22 थे— उनका तर्क था कि आंदोलन का अधिकार अनुच्छेद 19 के तहत मौलिक अधिकार था, इसलि, बचाव पक्ष के वकील को यह साबित करना होगा कि प्रतिबंधात्मक बंदी का कानून अनुच्छेद 19 (2) के पांच खंडों के अनुसार एक उचित प्रतिबंध था—

मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) पहला मामला था, जो आपातकाल के बाद सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आया इसमें न्यायालय ने फैसला दिया कि अनुच्छेद 21 और 19 परस्पर अनन्य नहीं थे— उन्हें एक साथ पढ़ना था और इसीलिए किसी भी अधिकार को प्रभावित करने वाली प्रक्रिया को उचित होना चाहिए यह भी कि अनुच्छेद 21 में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का मतलब उचित न्यायपूर्ण और निष्पक्ष प्रक्रिया थी न कि मनमानी। दमनकारी निवारक कानून को अब केवल अनुच्छेद 22 के लिए ही नहीं वरन अनुच्छेद 21 के लिए भी परीक्षा पास करनी है और यदि ऐसे कानून की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी जाती है तो अदालत को तय करना होगा किस तरह के कानून द्वारा व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित करने की प्रक्रिया न्यायपूर्ण, निष्पक्ष और उचित है— अनुच्छेद 21 के दायरे के विस्तार के परिणाम स्वरूप जनहित याचिकाओं को जेल में बंद बच्चों के संबंध में विशेष सुरक्षा, प्रदूषण और हानिकारक दवाओं के कारण स्वास्थ्य संबंधी खतरे, भिखारियों के लिए आवास, घायल व्यक्तियों को तत्काल चिकित्सा सहायता, भुखमरी से मौत, खुले परीक्षण का अधिकार, सूचना का अधिकार आदि के तहत जगह मिली है— इसके अंतर्गत विदेश जाने का अधिकार, निजता का अधिकार, एकांत कारावास के विरुद्ध अधिकार, हथकड़ी के विरुद्ध अधिकार, विलंब निष्पादन के विरुद्ध अधिकार, आश्रय का अधिकार, हिरासत में मृत्यु के खिलाफ अधिकार, सार्वजनिक फांसी के खिलाफ अधिकार, चिकित्सा सहायता भी शामिल है— उन्नीकृष्णन के मामले में बताया गया कि इसमें शिक्षा का अधिकार भी शामिल है।

सन 1981 में ,सपी गप्ता बनाम भारतीय संघ (3) या जजेस केस फर्स्ट के नाम से प्रसिद्ध केस आया, जिसमें न्यायालय ने कहा कि पेशेवर वकीलों को अनुच्छेद 32 के अंतगत याचिका रखें जाने के लिए पर्याप्त कारण है तथा क्योंकि यह मामले न्यायालय की स्वतंत्रता को प्रभावित कर रहे थे, इसके अंतगत न्यायालय ने माना कि सार्वजनिक हित में मामले को उठाने के लिए यह अदालत औपचारिक याचिका का इंतजार नहीं करेगी वरन यदि कोई व्यक्ति एक चिट्ठी भी लिख देगा तो उसे सार्वजनिक हित में याचिका मान लेगे।

गस रिसाव का मामला 1987 (4) यह प्रसिद्ध टॉर्ट ला कानून का मामला है जो पूर्ण दायित्व के सिद्धांत में लाया गया है इसमें दिल्ली क्लॉथ मिल्स लिमिटेड की सहायक कंपनी श्रीमान फूड एड फर्टिलाइजर टडस्ट्री' खतरनाक रसायन के निर्माण में लगी थी। 1985 में आलियम गैस के रिसाव के कारण कुछ



व्यक्तियों की मृत्यु हो गई न्यायालय ने कहा कि राज्य के पास अधिकार है कि जोखिम भरी औद्योगिक गतिविधियों पर रोक लगा सके, ताकि जनसाधारण को स्वच्छ पर्यावरण में रहने के अधिकार को सुनिश्चित किया जा सके।

दिल्ली की प्रदूषित औद्योगिक इकाइयों की गंदी तथा स्थानांतरण का आदेश, 1996 (5) यह मामला एम. सी. मेहता की एक याचिका से 1985 में शुरू हुआ, जिसमें कहा गया था कि दिल्ली में एक लाख से अधिक औद्योगिक इकाइयां वातावरण को प्रदूषित कर रही हैं जो नागरिकों के स्वास्थ्य को गंभीर खतरा पहुंचा रहे हैं, सर्वोच्च न्यायालय ने याचिका की सुनवाई करते हुए 8 जुलाई 1996 को अपना निर्णय सुनाते हुए औद्योगिक इकाइयों को दिल्ली के पर्यावरण के साथ-साथ आम नागरिकों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ठहराते हुए 168 बड़ी प्रदूषणकारी इकाइयों को दिल्ली से स्थानांतरित या बंद करने का आदेश दिया।

पर्यावरण शिक्षा का मामला 1991 (6)

इस मामले में एमसी मेहता ने सीधे सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्र में एक मूलभूत आवश्यकता है कि पर्यावरण जागरूकता हो इस मामले में उन्होंने मांग की कि सरकार सिनेमाघरों में पर्यावरण संरक्षण के बारे में छोटी-छोटी कतरने दिखाए और अदालत ने इनकी अनुमति दी न्यायालय ने राज्य सरकारों का कर्तव्य बताया कि सिनेमा हॉल में पर्यावरण संरक्षण के तरीकों और विवरण वाली प्रदर्शनी स्लाइड दिखाए- ऑल इंडिया रडियो चौनल पर पारिस्थितिक संरक्षण के संबंध में प्रसारण टेलोविजन नेटवर्क के माध्यम से पर्यावरण संबंधित खबरें फैलाए पर्यावरण शिक्षा को पूरे देश के सभी स्कूलों में पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा बनना था। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को स्नातक और स्नातकोत्तर डिग्री के लिए पर्यावरण संरक्षण के विषय में नियम बनाने के लिए भी कहा गया था।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जब कामकाजी महिलाओं का यौन शोषण रोकने के लिए विशाखा दिशा-निर्देश दिए गए (7) विशाखा दिशा-निर्देश मूलतः सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ होने वाले यौन शोषण को रोकने संबंधी प्रावधान है विशाखा महिलाओं का एक ऐसा अधिकार समूह है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय में लोकहित याचिका दायर कर गुजारिश की थी कि कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ होने वाले यौन शोषण को रोकने के लिए कुछ प्रावधान बनाएं। यह विशाखा दिशा-निर्देश 1997 में अस्तित्व में आया था यह दिशानिर्देश न्यायिक सक्रियता का चरमोत्कर्ष माना गया इसमें न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय संधि सीडा को लागू करने के लिए चौथा रेगुलेशन स्थापित किया।

जनहित याचिका एवं लोकतंत्र-

जनहित याचिका के इतिहास में अमेरिका में गिडन बनाम राईट केस 372 एन एस 335 जनहित याचिका संबंधी प्रथम केस था जो कि वहां 1876 में विधिक सहायता उपलब्ध कराने के संबंध में दायर किया था। भारत में सबसे पहले जनहित याचिका के महत्त्व को कानूनी मान्यता प्राप्त हुई जब उस समय के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश कृष्णा अय्यर ने मुम्बई, कामगार तथा बनाम अब्दुला भाई ए. आइ. आर. 1976 एस. सी. पृष्ठ 1455 के निर्णय में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जनहित की व्यापक व्याख्या किया जाना इसलिए आवश्यक है कि इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ अनगिनत



व्यक्तियों के हित की रक्षा भी हो जाती है, विशेष तौर पर, जबकि ऐसे समुदाय को गरीबी व अज्ञान के कारण अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं हो और आर्थिक विपन्नता के कारण वे लोग खर्चीली न्याय-प्रणाली व नियमों की बाध्यता के कारण न्यायालय में जाने में असमर्थ हैं। जनहित याचिका को 1980 के दशक में जस्टिस पी. एन. भगवते ने लोकप्रिय बनाया। जनहित याचिका का अभिप्राय यह है कि पीड़ित व्यक्तियों के बदले अन्य व्यक्ति और संगठन न्याय की मांग कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति पीड़ित है परंतु उसमें न्यायालय में न्याय के लिए जाने की क्षमता नहीं है वैसी स्थिति में अन्य व्यक्तियों तथा स्वैच्छिक संगठनों की यह अधिकार है कि वे पीड़ित व्यक्ति के बदले न्याय के लिए न्यायालय में याचिका पेश कर सकते हैं। यह व्यवस्था देश के आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए उपलब्ध कराई गई है जिससे उन्हें न्याय मिल सके। उदाहरण के लिए, बंधुआ मजदूरों के लिए जनहित याचिका वरदान साबित हुई है। इतना ही नहीं देश की आम समस्याओं, जैसे- भ्रष्टाचार, को लेकर भी जनहित याचिका ने ऐतिहासिक निर्णय दिलवाया है। जनहित को लेकर कोई भी व्यक्ति न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है। न्यायविदों ने अखबारों खबरों के आधार पर भी जनहित याचिका को स्वीकार किया है और अपने महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं।

न्यायपालिका गरीबों, शोषितों, उपेक्षितों तथा पद दलितों के लिए अंतिम शरण-स्थल है। अपनी अस्मिता तथा गरिमा की रक्षा के लिए प्रत्येक सुसंस्कृत देश का नागरिक न्यायपालिका की ओर निहारता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की रक्षा के लिए न्यायालय की ओर से आश्वस्त रहता है कि वहां पर उनके हितों की रक्षा हो सकेगी। न्यायपालिका के निर्णय का ही जनसाधारण के मस्तिष्क पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। न्यायपालिका को आदरणीय स्थान दिए बिना किसी देश को सभ्य कहने की कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि राज्य या समाज का कैसा भी स्वरूप हों, जब तक विरोधों और विभेदों की संभावना रहेगी, श्रेष्ठ, स्वतंत्र एवं सक्षम न्यायपालिका की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। कार्यपालिका आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ाए बैठी हो। जिसके कान नहीं सुनने की बीमारी से ग्रसित हो और भ्रष्टाचार चरम पर हो ऐसे में गरीब और व्यापक जनहित के मुद्दों पर कौन सुनवाई करेगा। ऐसे में आम आदमी का विश्वास मात्र न्याय प्रणाली में ही है।

एक जनहित याचिका (8) में याचिकाकर्ता न भारत के सर्वोच्च न्यायालय में पीड़ित महिलाओं के बच्चों के लिए अलग शिक्षण संस्थान स्थापित करने की प्रार्थना की सर्वोच्च न्यायालय ने एक ऐसी समिति गठित की जिसकी रिपोर्ट प्रस्तुत करने पर अपने फैसले में न्यायालय ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 21, 23, 24, 38, 39, 45, 46 और प्रासंगिक अंतरराष्ट्रीय उपकरणों से महिलाओं और बच्चों के मौलिक अधिकारों का हवाला दिया- न्यायालय ने इनके पुनर्वास और वेश्याओं के बच्चों के लिए विस्तृत निर्देश दिए न्यायालय द्वारा माना गया कि सामाजिक, आर्थिक सशक्तिकरण और न्याय द्वारा उनका पुनर्वास राज्य का संवैधानिक कर्तव्य है व्यक्ति की गरिमा के साथ-साथ उनका आर्थिक सशक्तिकरण और सामाजिक न्याय मौलिक अधिकार है और न्यायालय और सरकार को उन्हें सुनिश्चित करने के लिए सकारात्मक प्रयास करना चाहिए-

एक जनहित याचिका (9) संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत दायर की गई थी उसमें उद्योगों में नियोजित श्रमिकों के लिए व्यावसायिक स्वास्थ्य संबंधी खतरे और बीमारियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था। याचिकाकर्ता ने खानों और एस्बेस्टस उद्योगों में लग श्रमिकों की बीमारी एसबेस्टासिस निदान और नियंत्रण के लिए प्रार्थना की थी। न्यायालय ने सभी उद्योगों एवं संघ तथा राज्य सरकारों को इस बाबत निर्देश दिए। इसी प्रकार अन्य कई मामलों में माना गया है कि न्यायालय ने विधायिका



एवं कार्यपालिका का कार्य अपने हाथों में ले लिया हैं जैसे सिनेमा हॉल में राष्ट्रगान चलाना या राष्ट्रीय राजमार्गों से शराब की दुकानों को हटाने का निर्णय ओलगा टेलिस बनाम मुंबई म्युनिसिपल कारपोरेशन (14) का मामला प्रतीकात्मक सक्रियता का सर्वोत्तम उदाहरण है।

एक जनहित याचिका (10) में सर्वोच्च न्यायालय न बड़ा फैसला सुनाते हुए राइट टू सर्वोच्च न्यायालय ने एक जनहित याचिका(18) पर ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए केरल के अय्यप्पा स्वामी के मंदिर सबरीमाला में महिलाओं के प्रवेश की अनुमति दे दी न्यायालय के अनुसार हिंदू धर्म में महिलाओं का सम्माननीय स्थान है इन्हें देवी की तरह पूजा जाता है, यदि सार्वजनिक जगह पर पुरुष जा सकते हैं तो महिलाओं को भी प्रवेश की इजाजत मिलनी चाहिए।

निष्कर्ष –

जनहित मुकदमे के मामलों में न्यायालय द्वारा न्यायिक सक्रियता के माध्यम से संविधान की भावना को विधायिका एवं कार्यपालिका के लिए मार्गदर्शक के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। न्यायाधीशों द्वारा अपने कर्तव्यों के निष्पादन के दौरान विधि का उदार निर्वाचन तथा प्रक्रियात्मक विधिक सामाजिक न्याय एवं जनता की आवश्यकता और अपेक्षाओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त विधायिका द्वारा छोड़ी गई विधि के क्षेत्र में कमी को पूरा करना उचित है परंतु उन्हें स्वयं के दर्शनशास्त्र एवं विचारों को न्यायिक अनुशासन एवं विधि की कीमत पर अनुमति नहीं दी जा सकती। न्यायालय संविधान के तहत विधायिका एवं कार्यपालिका को दिए गए कार्यों को अपने पास नहीं ले सकता और ना वह कार्यपालिका से कोई विधायन प्रारंभ करने के लिए कह सकता है न ही विधायिका से एसी कोई विधि पारित करने के लिए कह सकता है जो उसके दृष्टि में कितनी भी आवश्यक एवं वांछित क्यों ना हो। जनहित याचिका के द्वारा न्यायिक सक्रियता ने सरकार के तीनों अंगों के मध्य संघर्ष की संभावना उत्पन्न की इस कार्यपालिका और विधायिका के शासन क्षेत्र में अतिक्रमण करने के लिए दोषी ठहराया गया।

जनहित याचिका के क्षेत्र में न्यायिक सक्रियता को सीमित करने के लिए एक निजी सदस्य का विधेयक जिसका शीर्षक था जनहित याचिका (नियमन) विधेयक 1996 राज्यसभा में रखा गया इसमें उद्देश्य और कारणों पर बयान दिया गया कि जनहित याचिका का समाज के गरीब वर्गों का न्याय दिलाने के नाम पर दुरुपयोग किया गया। 2007 में प्रधानमंत्री द्वारा भी उसकी मर्यादाओं को लांघने के विरुद्ध चेतावनी दी गई आर जनहित कानून के सीमांकन के लिए न्याय पीठ स्थापित करने के लिए कहा गया। अदालत कक्ष में बाढ़ की भांति जनहित याचिका के आ जाने से अधिक महत्वपूर्ण प्रकरणों के निर्णय में देरी हुई, जनहित कानून और न्यायिक सक्रियता को लेकर कुछ चिंताएं हैं भारतीय संविधान में सरकार के तीनों अंगों कार्यपालिका विधायिका और न्यायपालिका के कार्यों का विभाजन किया गया है और इनसे अपेक्षा की गई है कि एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच का विवाद लोकतंत्र के लिए उचित नहीं है। न्यायपालिका अपने उचित और निष्पक्ष निर्णय से जनता में विद्रोह की भावना को नहीं पनपने देती। प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका का होना नितांत आवश्यक है। इस देश में न न्यायपालिका ही सर्वोच्च है और न ही विधायिका और कार्यपालिका बल्कि संविधान सर्वोच्च है। संवैधानिक दायरों के भीतर सरकार के सभी अंगों को कार्य करना पड़ता है।



सन्दर्भ सूचि –

- 1- मेनका गांधी बनाम भारत संघ ए-आई-आर-597, 1978 एस- सी- आर (2) 621
- 2- दूसैनारा खातून एवं अन्य बनाम गह सचिव, स्टेट ऑफ बिहार, 9 मार्च 1979, ए- आई- आर 1369(कपिला हिंगोरानी)
- 3- ए- आई- आर 1982 एस- सी- 149 (1981) सप्ली-एस-सी-सी- 87
- 4- एम- सी मेहता बनाम भारत संघ, श्रीराम इ.डस्ट्रीज केस, 1987, ए-आई आर 1086, 1987 एस- सी- आर (1) 819
- 5- एम-सी मेहता बनाम भारत संघ एवं अन्य (1996) 4 एस- सी- सी- 351
- 6- एम-सी मेहता (ताज ट्रेपेजियम मेटर) बनाम भारत संघ (1997) 2 एस- सी- सी- 353
- 7- एम- सी मेहता बनाम भारत संघ (1987) 4 एस-सी-सी 463
- 8- एम- सी मेहता बनाम भारत संघ 1991 वेहीकुलर पाल्यूशन केस 1991 एस- सी-आर (1) 866, 1991 एस- सी- सी (2) 353 रिट पिटीशन (सी) नं- 13029 ऑफ 1985 16 अप्रैल 1999
- 9- एम- सी मेहता बनाम भारत संघ, डब्ल्यू- पी- 860/1991 (1991-11-22) 10- एस- सेठी बनाम भारत संघ, ए-आई- आर 1998 ए- आई आई 331
- 10- विशाखा बनाम राजस्थान राज्य, ए-आई-आर- 1997 एम- सी 3011
- 11- गौरव जैन बनाम भारत संघ, ए-आई- आर 1997 एस- सी 3021
- 12- इन कन्ज्यूमर एजुकेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर बनाम भारत संघ (1995) 3 एस- सी- सी 42
- 13- रिट पिटीशन (सिविल) न- 490 आफ 2005 लिलि थामस बनाम भारत संघ व अन्य विथ रिट पिटीशन (सिविल) नं- 231 आरॉफ 2005, लोक प्रहरी थूर जनरल सेक्रेटरी बनाम भारत संघ व अन्य ।